15,17 नवम्बर 2006
जिनवाणी, 152

तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षा व्रतों का महत्त्व

डॉ. मंजुला बम्ब

गुणव्रत अणुव्रतों के पालन में सहायता प्रदान करते हैं और शिक्षाव्रत नित्य अभ्यास से अणुव्रतों के प्रति दृढ़ता का भाव पैदा करते हैं। गुणव्रत की क्यारी में, शिक्षाव्रत के जल से अणुव्रत का पौधा यदि सींचा जाता है तो निश्चित ही एक दिन यह पौधा महान् फलदायी होता है। प्रस्तुत लेख में तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों पर समीचीन प्रकाश डाला गया है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण जैन साधना का मूल प्राण है। यह जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का महासूत्र है। प्रतिक्रमण साधक की अपनी आत्मा को परखने का, निरखने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। जैसे वैदिक परम्परा में संध्या का, बौद्ध परम्परा में उपासना का, ईसाई परम्परा में प्रार्थना का, इस्लाम धर्म में नमाज का महत्त्व है वैसे ही जैन धर्म में दोष शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण का महत्त्व है।

प्रतिक्रमण का अर्थ बताते हुए आचार्य हरिभद्र (७००-७७० ई.) ने आवश्यक सूत्र की टीका में महत्त्वपूर्ण प्राचीन श्लोक का कथन किया है -

स्वस्थानाद् यत् पर-स्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥

अर्थात् प्रमादवश शुद्ध परिणति रूप आत्मभाव से हटकर अशुद्ध परिणति रूप पर-भाव को प्राप्त करने के बाद फिर से आत्मभाव को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है शुभ योगों से अशुभ योगों में गयी हुई अपनी आत्मा को पुनः शुभ योगों में लौटाना। अशुभ योग से निवृत्त होकर निःशल्यभाव से उतरोत्तर शुभ योगों में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।

जो साधक किसी प्रमाद के कारणवश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयम रूप पर स्थान में चला गया हो, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग ये पाँच आस्रव अत्यन्त भयंकर माने गये हैं। प्रत्येक साधक को इनका प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना चाहिए। मिथ्यात्व का परित्याग कर सम्यक्त्व में आना चाहिए। अविरति को त्यागकर विरति को स्वीकार करना चाहिए। प्रमाद के बदले में अप्रमाद को तथा कषाय का परिहार कर क्षमादि को धारण करना चाहिए और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभ योगों के व्यापार का त्यागकर शुभ योगों में रमण करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक शब्द 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है श्रवण करना - सुनना। अर्थात् जो शास्त्रों को श्रवण करने वाले हैं, उन्हें श्रावक कहते हैं। व्यवहार में श्रावक शब्द का अर्थ इस प्रकार है -

श्रद्धालुतां याति शृणोति शासनं, दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

अर्थात् जो श्रद्धावान हो, शास्त्र का श्रवण करे, दान का वपन करे, सम्यग्दर्शन का वरण करे, पाप को काटे या क्रियावान हो, वह श्रावक है। आशय यह है कि जो शुद्ध श्रद्धा से युक्त हो और विवेकपूर्वक क्रिया करे, वह श्रावक है।

जिस प्रकार तालाब के नाले का निरोध कर देने से पानी का आगमन रुक जाता है, उसी प्रकार हिंसादि का निरोध कर देने से पाप का निरोध हो जाता है इसी को व्रत कहते हैं। व्रतों का समाचरण दो प्रकार से किया जाता है - जो हिंसा आदि का सर्वथा त्याग करके साधु बनते हैं वे सर्वव्रती (महाव्रती) कहलाते हैं और जो आवश्यकतानुसार छूट रखकर आंशिक रूप से हिंसादि पापों का त्याग करते हैं, वे अणुव्रती श्रावक कहलाते हैं। उन्हें देशव्रती भी कहते हैं। देशव्रती के चारित्र में पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का इस प्रकार कुल बारह व्रतों का समावेश होता है।

श्रावकों के व्रत बारह प्रकार के होते हैं।

पाँच अणुव्रत
(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत
(२) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत
(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत
(४) स्वदार संतोष व्रत
(५) स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत

तीन गुणव्रत
(१) दिशा परिमाण व्रत
(२) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत
(३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत

चार शिक्षाव्रत
(१) सामायिक व्रत
(२) देशावगासिक व्रत
(३) पौषधोपवास व्रत
(४) अतिथिसंविभाग व्रत

पहले पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत। श्रमण हिंसादि का पूर्ण परित्याग करता है इसलिए उनके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। किन्तु श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप से करता है, अतः श्रावक के व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस आलेख में श्रावक के तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों का विवेचन किया जा रहा है-

तीन गुणव्रत

पाँच अणुव्रत के पश्चात् तीन गुणव्रत हैं। गुणाय चोपकाराय अणुव्रतानां व्रतं गुणव्रतम् अर्थात् अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाने वाला, उनको उपकार से पुष्ट करने वाला व्रत 'गुणव्रत' कहलाता है।

अणुव्रतों के विकास में गुणव्रत सहायक है। इनके तीन भेद हैं - दिशा परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और अनर्थदण्ड-विरमण व्रत। इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि ये अणुव्रत रूपी मूल गुणों की रक्षा व विकास करते हैं। जिस प्रकार कोठार में रखा हुआ धान्य नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार इन तीन गुणव्रतों को धारण करने से पाँच अणुव्रतों की रक्षा होती है और अणुव्रतों के पालन करने में पूरी सहायता मिलती है। दिशा परिमाण नामक व्रत, व्रत-संख्या के क्रम से छठा व्रत है और गुणव्रत की अपेक्षा पहला है। गुणव्रतों का स्वरूप निम्न प्रकार है-

(१) पहला गुणव्रत 'दिशा परिमाण'

इस गुणव्रत में दिशाओं में प्रवृत्ति को सीमित किया जाता है। पूर्व आदि चारों दिशाओं में जाने, आने या किसी को भेजने की मर्यादा करना होता है। जैसे कि - मैं पूर्व आदि चारों दिशाओं में इतने कोस से अधिक नहीं जाऊँगा या किसी को नहीं भेजूँगा।

ऊर्ध्वदिग्व्रत, अधोदिग्व्रत और तिर्यग्दिग्व्रत ऊपर की दिशाओं में अर्थात् पर्वत आदि ऊपर चढ़ने और उतरने तथा वायुयान के जाने-आने की मर्यादा निश्चित करना जैसे कि मैं पर्वत आदि स्थानों पर इतनी दूर से ज्यादा नहीं चढूँगा इत्यादि ऊर्ध्वदिग्व्रत कहलाता है।

तालाब, बावड़ी, कूप, खान आदि नीचे के स्थानों में उतरने की मर्यादा निश्चित करना अधोदिग्व्रत कहलाता है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में तथा वायव्य आदि कोणों में अपने आने-जाने की मर्यादा कायम करना तिर्यग्दिग्व्रत कहलाता है।

दिग्व्रतों के धारण करने से नियत की हुई मर्यादा से बाहर के जीवों की घात तथा मृषावाद आदि पाप, व्रतधारी श्रावक के द्वारा नहीं होता है। इसलिए इस व्रत को धारण करना आवश्यक होता है।

दिशाव्रत के पाँच अतिचार हैं- (१) ऊर्ध्व दिशाव्रत प्रमाणातिक्रम, (२) अधो दिशाव्रत प्रमाणातिक्रम, (३) तिरछी दिशा प्रमाणातिक्रम, (४) क्षेत्रवृद्धि और (५) स्मृतिभ्रंश।

१. **ऊर्ध्व दिशा अतिक्रम-** ऊपर की दिशा में अर्थात् पर्वत आदि के ऊपर चढ़ने उतरने आदि की श्रावक ने जो मर्यादा की है, उसका उल्लंघन करना यानी उससे अधिक दूर तक जाना-आना उर्ध्वदिशाव्रत प्रमाणातिक्रम है। यह भूल हो जाय तो अतिचार है, अन्यथा जानबूझकर ऐसा करना अनाचार है।

२-३. **अधो-तिरछी दिशा अतिक्रम-** नीचे की दिशा (अधोदिशा) और तिरछी (तिर्यक्) दिशाओं में जो दूरी निश्चित की हो उसको भूल से भंग कर देना अतिचार तथा जानबूझकर भंग करना अनाचार होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. क्षेत्रवृद्धि - पूर्व आदि चारों दिशाओं में आने-जाने के लिए जो क्षेत्र मर्यादित किया गया हो, उसको व्रत की अपेक्षा रखते हुए बढ़ा देना 'क्षेत्रवृद्धि' कहलाता है। जैसे किसी श्रावक ने पूर्व दिशा में आने-जाने के लिए सौ योजन की मर्यादा कायम की है और पश्चिम दिशा में दस योजन की अवधि नियत की है। उस श्रावक को पश्चिम दिशा में दस योजन से अधिक क्षेत्र में जाने का कार्य उपस्थित होने पर वह यदि पूर्व दिशा के कुछ योजनों को पश्चिम दिशा में मिलाकर पश्चिम दिशा के क्षेत्र की वृद्धि करे तो यह क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार है। ऐसा करने वाले श्रावक ने अपने व्रत की अपेक्षा रखकर क्षेत्रवृद्धि की है। इसलिए इसका यह कार्य अतिचार है, अनाचार नहीं है।

५. स्मृतिभ्रंश - जिस दिशा में जाने-आने के लिए जितनी मर्यादा निश्चित की है, उसको भूल जाना अथवा नियत की हुई मर्यादा पूरी न होने पर भी पूरी होने का सन्देह होने पर आगे चले जाना स्मृतिभ्रंश नामक अतिचार है।

पहला गुणव्रत अर्थात् छठा व्रत धारण करने से ३४३ घनरज्जु विस्तार वाले सम्पूर्ण लोक सम्बन्धी जो पाप आता था वह सीमित होकर जितने कोस की मर्यादा की होती है उतने ही कोस क्षेत्र मर्यादित हो जाता है। इससे सघन तृष्णा का निरोध हो जाता है और मन को सन्तोष तथा शान्ति प्राप्त होती है, इसके साथ ही आत्मा के गुणों में विशुद्धि तथा वृद्धि होती है।

(२) दूसरा गुणव्रत 'उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत'

उपभोग - आहार, पानी, पकवान, शाक, इत्र, ताम्बूल आदि जो वस्तुएँ एक ही बार भोगी जाती हैं, वे उपभोग कहलाती हैं।[ॐ]

परिभोग - स्थान, वस्त्र, आभूषण, शयनासन आदि जो वस्तुएँ बार-बार भोगी जाती हैं, वे परिभोग कहलाती हैं।

इस व्रत में उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा एक-दो दिन आदि के रूप में सीमित काल तक अथवा जीवन पर्यन्त के लिए की जा सकती है। यह व्रत अहिंसा और संतोष की रक्षा के लिए है। इससे जीवन में सादगी और सरलता का संचार होता है। महारंभ, महापरिग्रह और महातृष्णा से श्रावक मुक्त होता है। यह दो तरह से होता है भोजन से और कर्म से। उपभोग-परिभोग पदार्थों का परिमाण से अधिक सेवन करने का प्रत्याख्यान करना 'भोजन से उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत' है। उनकी प्राप्ति के साधनभूत धन का उपार्जन करने के लिए मर्यादा के उपरान्त व्यापार करने का त्याग करना 'कर्म से उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत' है। उपभोग-परिभोग योग्य की वस्तुओं को मुख्य रूप से आगम साहित्य में २६ प्रकारों में विभक्त किया गया है-

छब्बीस प्रकार की वस्तुएँ

१. उल्लणियाविहि - शरीर साफ करने या शौक के लिए रखे जाने वाले रुमाल, तौलिये आदि की मर्यादा।

२. दंतणविहि - दातौन करने के साधन की मर्यादा।

[ॐ] जहाँ पर 'भोग-उपभोग' शब्द आता है वहाँ भोग का अर्थ एक ही बार भोगी जाने वाली वस्तुओं से है तथा उपभोग का अर्थ बार-बार भोगी जाने वाली वस्तुओं से है। -सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **फलविहि** - आम, जामुन, नारियल आदि फलों को खाने की मर्यादा तथा माथे में लगाने के लिए आँवलादि की मर्यादा।

४. **अब्भंगणविहि** - इत्र, तेल, फुलेल आदि की मर्यादा।

५. **उव्वट्टणविहि** - शरीर को स्वच्छ और सतेज करने के लिए पीठी वगैरह उबटन लगाने की मर्यादा।

६. **मज्जणविहि** - स्नान के लिए पानी की मर्यादा।

७. **वत्थविहि** - वस्त्रों की जाति और संख्या की मर्यादा।

८. **विलेवणविहि** - शरीर पर लेपन करने के अगर, तगर, केसर, इत्र, तेल, सेंट आदि वस्तुओं की मर्यादा।

९. **पुप्फविहि** - फूलों की जाति तथा संख्या की मर्यादा।

१०. **आभरणविहि** - आभूषणों की संख्या तथा जाति की मर्यादा।

११. **धूवविहि** - धूप (सुगन्धित द्रव्य) की जाति तथा संख्या की मर्यादा।

१२. **पेज्जविहि** - शर्बत, चाय, काफी आदि पेय पदार्थों की मर्यादा।

१३. **भक्खणविहि** - पकवान और मिठाई की मर्यादा।

१४. **ओदणविहि** - चावल, खिचडी आदि की मर्यादा।

१५. **सूपविहि** - चना, मूँग, मोठ, उड़द आदि दालों की तथा चौबीस प्रकार के धान्यों की मर्यादा करना।

१६. **विगयविहि** - दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर आदि की मर्यादा।

१७. **सागविहि** - मैथी, चन्दलोई आदि भाजी तथा तोरई, ककड़ी, भिण्डी आदि अन्य सागों की मर्यादा।

१८. **माहुरविहि** - बादाम, पिश्ता, खारक आदि मेवे की तथा आँवला आदि मुरब्बे की मर्यादा।

१९. **जीमणविहि** - भोजन में जितने पदार्थ भोगने में आए उनकी मर्यादा करना।

२०. **पाणीविहि** - नदी, कूप, तालाब, नल आदि के पानी की मर्यादा।

२१. **मुखवासविहि** - पान, सुपारी, लोंग, इलायची, चूर्ण, खटाई आदि की मर्यादा करना।

२२. **वाहणविहि** - हाथी, घोड़ा, बैल आदि से चलने वाली गाड़ी या बग्गी, मोटर, साइकिल, कार, बस आदि यन्त्र चालित वाहन, जहाज, नौका, स्टीमर आदि तिरने वाले वाहन, विमान, हवाई जहाज, गुब्बारा आदि उड़ने वाले वाहन तथा अन्य प्रकार की सवारियों की मर्यादा।

२३. **उवाहण (उपानह) विहि** - जूता, चप्पल, खडाऊ आदि की मर्यादा।

२४. **सयणविहि** - खाट, पलंग, कोच, टेबिल, कुर्सी, बिछौने की जितनी भी जातियाँ हैं उन सबकी मर्यादा।

२५. **सचित्तविहि** - सचित्त बीज, वनस्पति, पानी, नमक आदि की मर्यादा।

२६. **दव्वविहि** - जितने स्वाद बदलें उतने द्रव्य गिने जाते हैं। जैसे गेहूँ एक वस्तु है, परन्तु उसकी रोटी, पूरी, थूली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि अनेक अन्य चीजें बनती हैं, वह सब अलग-अलग द्रव्य गिने जाते हैं। इसी प्रकार द्रव्य समझना चाहिए।

उक्त छब्बीस प्रकार की वस्तुओं में कोई उपभोग की है और कोई परिभोग की हैं। श्रावक का कर्तव्य है कि जो-जो वस्तु अधिक पापजनक हो उसका परित्याग करे और जिन-जिन को काम में लाये बिना काम न चल सकता हो उनकी संख्या एवं वजन आदि की मर्यादा करे और अतिरिक्त का त्याग कर दे। मर्यादा की हुई वस्तुओं में से भी अवसरोचित कम करता जाय और उनमें लुब्धता धारण न करे। अपनी आवश्यकताओं को कम से कम बनाना और सन्तोषवृत्ति को अधिक बढ़ाना इस व्रत का प्रधान प्रयोजन है। ज्यों-ज्यों यह प्रयोजन पूरा होता जाता है त्यों-त्यों जीवन हल्का और अनुकूल बनता चला जाता है, क्योंकि जीवन केवल भोग के लिए ही नहीं होता है। उससे परमार्थ की साधना भी करनी चाहिए।

छब्बीस वस्तुओं में से पहले से ग्यारह तक के बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ एवं सुशोभित करने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं। बीच के दस खाने-पीने में आने वाले पदार्थों से संबंधित हैं और अन्त के शेष बोल शरीर आदि की रक्षा करने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं।

उपभोग करने योग्य भोजन, पान आदि पदार्थों का तथा परिभोग करने योग्य वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थों का परिमाण निश्चित करना अर्थात् मैं अमुक वस्तु को ही अपने उपभोग परिभोग में रखूँगा, इनसे भिन्न पदार्थों को नहीं रखूँगा, ऐसी संख्या नियत करना भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग व्रत है। इसके पाँच अतिचार निम्न प्रकार हैं-

१. सचित्ताहार - सचित्त पदार्थों के भक्षण के त्यागी श्रावक के द्वारा सचित्त कन्द, मूल, फल, फूल तथा पृथ्वीकायिक नमक आदि का भक्षण किया जाना सचित्ताहार नामक अतिचार है। व्रतधारी श्रावक यदि भूल से सचित्त वस्तु का भक्षण कर ले अथवा सचित्त वस्तु में यदि उसका अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार हो जाय तो वह अतिचार है अन्यथा जानबूझकर सचित्त वस्तु का भक्षण करना अनाचार होता है।

२. सचित्त प्रतिबद्धाहार - जिस सचित्त वस्तु का त्याग किया है उसके साथ अचित्त वस्तु संलग्न हो वह सचित्त पडिबद्ध कहलाती है। उसका आहार करना जैसे - वृक्ष में लगा हुआ गोंद, पिंडखजूर, गुठली सहित आम आदि खाना।

३. अपक्वाहार - सचित वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके-कच्चे शाक, बिना पके फल आदि का सेवन करना।

४. दुष्पक्वाहार - जो वस्तु अर्धपक्व हो उसका आहार करना।

५. तुच्छौषधि भक्षण - जो वस्तु कम खाई जाय और अधिक मात्रा में फेंकी जाय ऐसी वस्तु का सेवन करना जैसे सीताफल, गन्ना आदि। इनके खाने से विराधना तो अधिक होती है और तृप्ति बिल्कुल थोड़ी होती है, इसलिए यह तुच्छौषधि अतिचार है।

उपभोग तथा परिभोग के योग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्योग धंधों का परिमाण करना, जैसे कि मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमुक-अमुक उद्योग धंधों से ही अपने उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का उपार्जन करूँगा, दूसरे कार्यों से नहीं। यह कर्म से उपभोग-परिभोग व्रत कहलाता है।

उपभोग-परिभोग के लिए वस्तुओं की प्राप्ति करनी पड़ती है और उनके लिए पाप कर्म भी करना पड़ता है। जिस व्यवसाय में महारंभ होता है, ऐसे कार्य श्रावक के लिए निषिद्ध हैं, उन्हें कर्मादान की संज्ञा दी गई है, उनकी संख्या पन्द्रह है। ये जानने योग्य है, किन्तु आचरण के योग्य नहीं हैं, वे इस प्रकार हैं –

१. **अंगार कर्म** - अग्नि सम्बन्धी व्यापार जैसे कोयले, ईंट पकाने आदि का धंधा करना। इस व्यापार में छः काय के जीवों की हिंसा अधिक होती है।

२. **वन कर्म** - वनस्पति संबंधी व्यापार जैसे वृक्ष काटने, घास काटने आदि का धंधा करना। इस व्यापार कार्य में भी हिंसा होती है।

३. **शकट कर्म** - वाहन सम्बन्धी व्यापार यथा गाडी, मोटर, तांगा, रिक्शा आदि बनाना। इसमें पशुओं का बंध, वध और जीव हिंसादि पाप अधिक होता है।

४. **भाट कर्म** - वाहन आदि किराये पर देकर आजीविका चलाना।

५. **स्फोट कर्म** - भूमि फोड़ने का व्यापार जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनवाना मकान बनाने का व्यवसाय करना।

६. **दन्तवाणिज्य** -हाथीदाँत, हड्डी आदि खरीदने का व्यापार करना।

७. **लाक्षा वाणिज्य** - लाख, चपड़ी आदि खरीदने और बेचने का व्यापार करना। लाख में जीव बहुत अधिक होते हैं।

८. **रस वाणिज्य** - मदिरा, शहद आदि का व्यापार करना।

९. **केश वाणिज्य** - बालों व बाल वाले प्राणियों का व्यापार करना। केश के लिए ही चँवरी गाय आदि प्राणियों की हिंसा होती है। ऐसे व्यापार त्यागने योग्य है।

१०. **विष वाणिज्य** - जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार। विषयुक्त पदार्थों के खाने से या सूंघने से प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। यह कर्म भी श्रावक के लिए अनाचर्य है।

११. **यंत्रपीडन कर्म** - मशीन चलाने का व्यापार। ईख, तिल, कपास और धान्यादि को यंत्रों द्वारा पीड़न करने से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए यह कर्म निंदित है।

१२. **निर्लाञ्छन कर्म** - बैल, भैंसा, ऊँट, बकरादि प्राणियों को नपुंसक बनाने हेतु अवयवों के छेदने, काटने आदि का व्यवसाय।

१३. **दावाग्निदापन कर्म** - वन, जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य। अथवा पृथ्वी को साफ करने के लिए दावाग्नि लगा देना। इस कार्य से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए यह कार्य निन्दित है।

१४. **सरद्रहतडाग शोषणता कर्म** - सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. **असतीजन पोषणता कर्म** - कुलटा स्त्रियों का पोषण, हिंसक प्राणियों का पालन, जैसे चूहे मारने के निमित्त बिल्ली पालना, वेश्यावृत्ति करवाना।

इन पन्द्रह कर्मादानों में से दस कर्म हैं और पाँच वाणिज्य हैं। श्रावक के लिए ये सबके सब त्याज्य हैं, क्योंकि इन कार्यों से महती हिंसा होती है। इन कर्मादानों के संबंध में भगवती सूत्र में पाठ आया है कि- जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं नो कप्पंति इमाइं पण्णरसकम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा कारवत्तेए वा अण्णं समणुजाणेत्तए वा। अर्थात् इन कर्मादानों को स्वयं नहीं करें, दूसरों से नहीं करावें तथा करने वाले को अच्छा नहीं मानें, क्योंकि ये ज्ञानावरणीय आदि के उत्कृष्ट कर्म बंध के हेतु हैं।

३. तीसरा गुणव्रत 'अर्थदण्ड विरमण व्रत'

अनर्थदण्ड विरमणव्रत नामक तीसरा गुणव्रत है। दण्ड दो प्रकार का है १. अर्थदण्ड २. अनर्थदण्ड। अपने शरीर, पुत्र, पुत्री, परिवार, नौकर-चाकर, समाज, देश, कृषि, व्यापार आदि के निमित्त कार्य करने में जो आरम्भ होता है, वह अर्थदण्ड कहलाता है। इसके अतिरिक्त बिना प्रयोजन अथवा प्रयोजन से जो अधिक आरंभ किया जाता है, वह अनर्थदण्ड कहलाता है। अर्थदण्ड की अपेक्षा अनर्थदण्ड में ज्यादा पाप होता है, क्योंकि अर्थदण्ड में करने की भावना गौण और प्रयोजन सिद्ध करने की भावना प्रधान होती है, जबकि अनर्थदण्ड में आरंभ करने की बुद्धि प्रधान होती है और प्रयोजन कुछ होता नहीं है। अनर्थदण्ड हिंसा के चार रूप हैं- १. अपध्यानाचरित, २. प्रमादाचरित, ३. हिंसाप्रदान और ४. पापकर्मोपदेश।

१. **अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड** - जो ध्यान अप्रशस्त है, बुरा है वह अपध्यान है। ध्यान का अर्थ है किसी भी प्रकार के विचारों में चित्त की एकाग्रता। व्यर्थ के बुरे संकल्पों में चित्त को एकाग्र करने से जो अनर्थदण्ड होता है, उसको अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहते हैं। अपध्यान के दो भेद हैं- आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। असत्, अशुभ या खोटें विचार करना। जैसे इष्टकारी स्त्री, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्थान, खान-पान, वस्त्राभूषण आदि का संयोग मिलने पर आनंद में मग्न हो जाना और इन सबके वियोग में तथा ज्वर आदि रोग हो जाने पर दुःख मानना, हाय-हाय करना। यह सब आर्त्तध्यान कहलाता है। हिंसा के काम में, मृषावाद के काम में, चोरी के काम में तथा भोगोपभोग के संरक्षण के कार्य में आनन्द मानना, दुश्मनों की घात या हानि होने का विचार करना रौद्रध्यान कहलाता है। आर्त्त एवं रौद्र- यह दोनों ध्यान अपध्यान हैं। श्रावक को ऐसे विचार नहीं करने चाहिए। कदाचित् अशुभ विचार उत्पन्न हो जायें तो सोचना चाहिए कि "चेतन! तू नाहक कर्म का बन्ध क्यों करता है?" इस प्रकार विचार करके समभाव धारण करना चाहिए और खोटे विचार के उत्पन्न होते ही शुभ विचार के द्वारा दबा देना चाहिए।

२. **प्रमादाचरित अनर्थदण्ड** - प्रमाद का आचरण करना। प्रमाद से आत्मा का पतन होता है। प्रमाद पाँच हैं - मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। ये पाँच प्रमाद अनर्थदण्ड रूप हैं। प्रमाद के दूसरे प्रकार के आठ भेद भी कहे गए हैं, यथा -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य।
राग-दोसो महिज्झंतो, धम्मम्मि य अणादरो।।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, पमाओ अट्ठहा भवे।
संसारुत्ताकामेणं सव्वहा वज्जियव्वओ।।

अर्थात् १. अज्ञान में रमण करना, २. बात-बात में वहम करना, ३. पापोत्पादक कहानियाँ, कामशास्त्र आदि से सम्बद्ध असत् साहित्य को पढ़ना, ४. धन-कुटुम्ब आदि में अत्यन्त आसक्त होना तथा विरोधियों पर एवं अनिष्ट वस्तुओं पर द्वेष धारण करना, ५. धर्म, धर्मक्रिया एवं धर्मात्मा का आदर न करना, ६-८. दुष्प्रणिधान से मन, वचन एवं काया रूप तीनों योगों को मलिन करना। इन आठों प्रमाद के सेवन से लाभ तो कुछ होता नहीं, कर्मबन्ध सहज ही हो जाता है। ये प्रमाद संसार का परिभ्रमण बढाने वाले हैं। श्रावक को विवेक रखकर इनका त्याग करना चाहिए।

कितने लोग ताश, शतरंज, चौपड़ आदि खेल में इधर-उधर की गप मारने में या खराब पुस्तकों को पढने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहता और खाना-पीना भी भूल जाते हैं। उनके आगे तरह-तरह की झंझटें खड़ी हो जाती हैं। वे सज्जनों से भी शत्रुता कर लेते हैं। इससे सारा जीवन और भविष्य दुःखद हो जाता है।

कोई-कोई अज्ञानी साफ रास्ता छोड़कर इधर-उधर उन्मार्ग में चलते हैं और कच्ची मिट्टी, सचित्त पानी, वनस्पति, दीमकों और चींटियों के बिलों को कुचलते हुए चलते हैं। चलते-चलते बिना प्रयोजन वृक्षों की डाली-पत्ते, फल, घास, तिनका आदि तोड़ते जाते हैं। हाथ में छड़ी लेकर चलते समय वृक्ष को, गाय को या कुत्ता आदि को मारते चलते हैं। अच्छी जगह छोड़कर मिट्टी के ढेर पर, अनाज की राशि पर, धान्य के थैलों पर अथवा हरी घास आदि पर बैठ जाते हैं। दूध , दही, घी, तेल, छाछ, पानी आदि के बर्तनों को बिना ढके छोड़ देते हैं। खोदने, पीसने, लीपने, राँधने और धोने आदि कामों के लिए ऊखल, मूसल, सलवट्टा, चक्की, चूल्हा, वस्त्र, बर्तन आदि को बिना देखे-भाले ही काम में ले लेते हैं। ऐसा करने से भी बहुत बार त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार के सभी कार्य प्रमादाचरित हैं। इनका सेवन करने से लाभ तो कुछ नहीं होता है और हिंसा आदि पापों का आचरण होने से घोर कर्मों का बंध हो जाता है, जिनका फल बड़ी कठिनाई से भोगना पड़ता है। श्रावक को प्रमादाचरित अनर्थदण्ड से सदैव बचते रहना चाहिए।

३. **हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड** - हिंसा में सहायक होना और हिंसाकारी वचन बोलना। जिनसे हिंसा होती है ऐसे अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधन अन्य विवेकहीन व्यक्तियों को दे देना, हिंसा में सहायक होना है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि -

सुकडित्ति सुपक्किति, सुच्छिन्ने सुहड़े मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी।।

यह गाथा यद्यपि साधु के द्वारा भोजन की प्रशंसा आदि से सम्बद्ध है, तथापि श्रावक के लिए भी उपादेय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मकान, वस्त्र, आभूषण, पकवान आदि को देखकर कहना कि बहुत अच्छा बनाया है। कृपण का धन चोर ने चुरा लिया, मकान जल गया या दिवाला निकल गया सो अच्छा ही हुआ। वह दुष्ट, पापी, अन्यायी, पाखण्डी या साँप, बिच्छू, खटमल, मच्छर आदि मर गये तो अच्छा ही हुआ, उनका मर जाना ही अच्छा था। यह सब और ऐसे ही अन्य वचन हिंसा की प्रशंसा रूप होने से तथा हिंसा की वृद्धि वाले होने के कारण बोलने योग्य नहीं हैं।

इसी प्रकार हिंसा जनक अन्य वचन बोलना भी अनर्थदण्ड ही है, जैसे- फूल-फल, धान्य आदि सभी सस्ते हैं इन्हें खरीद लो, वर्षा का मौसम आ गया है अपना घर सुधरवा लो, खेत सुधार लो, सर्दी बहुत पड़ रही है तो अलाव जलाकर ताप लो, पानी का छिड़काव करो, पुराना घर गिरा दो, नया घर बनवा लो आदि-आदि। इस प्रकार निरर्थक हिंसाकारी वचन बोलने से, वृथा ही पाप को उत्तेजना देने से पाप का भागी बनना पड़ता है। दूसरा ऐसे काम करता है तो अपने प्रयोजन से करता है, किन्तु उसकी सराहना या उसके लिए उत्तेजना करने वाले के हाथ कुछ नहीं आता है। व्यर्थ ही आत्मा पर कर्मों का बोझ बढ़ता है।

इसी प्रकार तलवार, बन्दूक आग आदि हिंसा के उपकरण दूसरों को देने से वृथा ही पाप कर्म का बंध होता है।

४. **पापकर्मोपदेश** - पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश से पापकर्म में प्रवृत्ति हो, पाप कर्म की अभिवृद्धि हो, उपदेश सुनने वाला पाप कर्म करने लगे, वह उपदेश अनर्थदण्ड रूप है, जैसे - खटमल, मच्छर, साँप, बिच्छू आदि क्षुद्र जानवरों को मारने के लिए उपदेश देना, भैरव आदि देवों के लिए भैंसा, बकरा, मुर्गा आदि जीवों को भोग देने की सलाह देना आदि। इसी तरह लड़ाई झगड़े का, दूसरों को फँसाने का, झूठा मुकदमा चलाने का, झूठी गवाही देने का, चोरी करने का उपदेश देना भी पापकर्मोपदेश है। ऐसे उपदेश को सुनकर मनुष्य जिस पापकर्म में प्रवृत्ति करता है, उस पापकर्म का भागी उपदेश दाता भी होता है। इससे मिथ्या धर्म-कर्म की वृद्धि होने से अनेक आत्माओं का अहित होता है। उपदेश देने वाले को कुछ भी लाभ नहीं होता है। अतएव ऐसे दण्ड से अपनी आत्मा को दण्डित करना श्रावक के लिए उचित नहीं है। इस गुणव्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं -

१. **कन्दर्प** - विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना।

२. **कौतकुच्य** - भांडों के समान हाथ-पैर मटकाना। नाक, मुँह आँख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

३. **मौखर्य** - बिना प्रयोजन के अधिक बोलना, अनर्गल बातें करना, व्यर्थ की बकवास करना और किसी की निंदा चुगली करना।

४. **संयुक्ताधिकरण** - बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों एवं घातक साधनों का संग्रह करके रखना। जैसे तलवार, चाकू, छुरी, मूसल, डण्डा, लोढी आदि वस्तुओं का अधिक तथा निष्प्रयोजन संग्रह करके रखना।

५. **उपभोग परिभोगातिरिक्त** - मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि उपभोग और परिभोग की सामग्री का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। जो मर्यादा में रखे हैं, उनमें अत्यन्त आसक्त रहना, उनका बार-बार उपभोग करना, उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपभोग स्वाद के लिए करना। भूख न होने पर भी स्वाद के लिए खाना, शरीर की रक्षा के लिए नहीं, मौज-शोक के लिए वस्त्र पहनना आदि।

चार शिक्षाव्रत

बार-बार अभ्यास करने योग्य व्रतों का नाम शिक्षाव्रत है। शिक्षा का अर्थ है- अभ्यास। जैसे विद्यार्थी पुनः-पुनः अभ्यास करता है वैसे ही श्रावक को पुनः-पुनः जिन व्रतों का अभ्यास करना चाहिए, उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में प्रायः एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं। किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार। ये कुछ समय के लिए होते हैं। शिक्षाव्रत चार प्रकार के हैं - १. सामायिक व्रत, २. देशावकासिक व्रत, ३. पौषधोपवास व्रत और ४. अतिथिसंविभाग व्रत।

पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की भली-भाँति रक्षा करने के लिए चार शिक्षाव्रतों की शिक्षा दी गयी है। जैसे राजा या न्यायाधीश अपराध करने वाले को शिक्षा या दण्ड देकर भूतकाल के अपराधों से निवृत्त करता है और भविष्य के लिए सावधान कर देता है, उसी प्रकार गुरु आदि प्राणातिपात विरमण आदि आठों व्रतों में प्रमाद आदि किसी कारण से हुई त्रुटि के लिए इन चार शिक्षा व्रतों में से किसी व्रत का दण्ड दे देते हैं जिससे भूतकालीन दोषों की शुद्धि हो जाय और भविष्य में सावधानी रखी जाए। इस कारण से भी ये शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

१. पहला शिक्षाव्रत 'सामायिक'

सामायिक व्रत पहला शिक्षाव्रत है। श्रावक के बारह व्रतों के क्रम में यह नौवां व्रत है। आध्यात्मिक आराधना एवं सदाचरण का अभ्यास करने के लिए सामायिक व्रत का अनुशीलन महान् लाभप्रद है। 'सम' और 'आय' शब्द से 'समाय' एवं फिर उससे 'सामायिक' शब्द बनता है अर्थात् समता का लाभ। जिस क्रिया विशेष से समभाव की प्राप्ति होती है वह सामायिक है। सामायिक में सावद्य योग का त्याग होता है और निरवद्य योग, पाप रहित प्रवृत्ति का आचरण होता है। समभाव का आचरण करने से सम्पूर्ण जीवन समतामय हो जाता है। सामायिक का स्वरूप इस प्रकार है -

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ भावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव रखना, पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना, हृदय में शुभ भावना रखना और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान में लीन होना सामायिक व्रत है। यह दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को निष्पाप, निष्कलंक एवं पवित्र बनाता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार -

१. **मनोदुष्प्रणिधान** - मन में बुरे संकल्प करना। मन को सामायिक में न लगाकर सांसारिक कार्यों में लगाना।

२. **वचन दुष्प्रणिधान** - सामायिक में कटु, कठोर, निष्ठुर, असभ्य तथा सावद्य वचन बोलना। किसी की निन्दा आदि करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. कायदुष्प्रणिधान - सामायिक में चंचलता रखना। शरीर से कुचेष्टा करना। बिना कारण शरीर को फैलाना और समेटना। अन्य किसी प्रकार की सावद्य चेष्टा करना आदि।

४. स्मृत्यकरण - सामायिक की स्मृति न रखना, ठीक समय पर न करना। मैंने सामायिक की है, इस बात को ही भूल जाना। सामायिक कब ली और वह कब पूरी होगी, इस बात का ध्यान नहीं रखना अथवा समय पर सामायिक करना ही भूल जाना।

५. अनवस्थितता - सामायिक को अस्थिरता से या शीघ्रता से करना, निश्चित विधि के अनुसार न करना। सामायिक की साधना से ऊबना, सामायिक के काल के पूर्ण हुए बिना ही सामायिक पार लेना। सामायिक के प्रति आदर-बुद्धि न रखना आदि।

२. दूसरा शिक्षाव्रत 'देशावगासिक व्रत'

श्रावक के बारह व्रतों के क्रम में यह दसवाँ व्रत है तथा शिक्षाव्रतों में से यह दूसरा शिक्षाव्रत है। छठे व्रत में जीवन भर के लिए दिशाओं की मर्यादा की थी उस परिमाण में कुछ घंटों के लिए या कुछ दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना अर्थात् उसको संक्षिप्त करना देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत में देश और अवकाश ये दो शब्द हैं जिनका अर्थ है स्थान विशेष। क्षेत्र मर्यादाओं को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोग रूप अन्य मर्यादाओं को भी सीमित करना इस व्रत में गर्भित है। साधक निश्चित काल के लिए जो मर्यादा करता है इसके बाहर किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता। दैनिक जीवन को वह इस व्रत से अधिकाधिक मर्यादित करता है। श्रावक के लिए सचित्त, द्रव्य, विगय, उपानह आदि की मर्यादा से सम्बद्ध १४ नियमों का भी विधान है। देशावगासिक व्रत की प्रतिज्ञा हर रोज की जाती है। प्रतिदिन क्षेत्र आदि की मर्यादा को कम करते रहना चाहिए। जैन धर्म त्याग-लक्ष्यी है। जीवन में अधिक से अधिक त्याग की ओर झुकना ही साधना का मुख्य ध्येय है। इस व्रत में इस ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं। वे इस प्रकार हैं -

१. आनयन प्रयोग - मर्यादित भूमि के बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेजकर अंदर मँगवाना अथवा समाचार मँगवाना आनयन प्रयोग है।

२. प्रेष्यबल प्रयोग - मर्यादा से बाहर की भूमि में किसी दूसरे के द्वारा कोई पदार्थ अथवा संदेश भेजना प्रेष्यबल प्रयोग है।

३. शब्दानुपात - मर्यादा के बाहर की भूमि से सम्बन्धित कार्य के आ पड़ने पर मर्यादा की भूमि में रहकर, शब्द के द्वारा चेता कर, चुटकी आदि बजाकर, दूसरे को अपना भाव प्रकट कर देना, जिससे वह व्यक्ति बिना कहे ही संकेतानुसार कार्य कर सके। यह शब्दानुपात कहलाता है।

४. रूपानुपात - मर्यादित भूमि के बाहर का यदि कार्य आ पड़े तो शरीर की चेष्टा करके आँख का इशारा करके या शरीर के अन्य किसी अंग के संकेत से दूसरे व्यक्ति को अपना भाव प्रकट करना रूपानुपात है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. बाह्यपुद्गल प्रक्षेप - नियत की हुई अवधि से बाहर का कार्य उपस्थित होने पर उसकी सिद्धि के लिए कंकर, काष्ठ, तृण आदि फेंककर बुलाने का संकेत करना या अपना अभिप्राय समझाना बाह्य पुद्गल प्रक्षेप कहलाता है।

उक्त पाँचों अतिचार केवल देश की मर्यादा सम्बन्धी ही हैं, किन्तु इस व्रत में उपभोग की मर्यादा भी की जाती है और १४ नियम तथा दयाव्रत और दस प्रत्याख्यान भी इसी व्रत में सम्मिलित हैं।

सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अणुव्रतों का क्षेत्र सीमित करने के लिए दिग्व्रत है, इसी प्रकार उनका परिमित काल तक अधिक संकोच करने के लिए देशावकाशिक व्रत है। दिन-प्रतिदिन आवश्यकताओं का संकोच करना इस व्रत का मुख्य फल है, क्योंकि यावज्जीवन के लिए किये जाने वाले हिंसा आदि के प्रमाण उतने संकुचित नहीं होते जितने एक मुहूर्त, एक दिन या सर्वाधिक समय के लिए हो सकते हैं। यावज्जीवन १००० कोस के उपरान्त जाकर हिंसा आदि दोषाचरण को त्यागने वाला व्यक्ति परिमित काल एक दो दिन के लिए १०-२० या ५० कोस के आगे उनका त्याग सहज ही कर सकता है। इस व्रत के पालने से दिनचर्या को अधिक विशुद्धि के पथ पर लाया जा सकता है। जीवन के प्रत्येक पल को सफल बनाने के लिए यह अमोघ मंत्र है।

३. तीसरा शिक्षाव्रत 'पौषधोपवास व्रत'

धर्म को पुष्ट करने वाले नियम विशेष का नाम पौषध है। एक अहोरात्र के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप व्यवहार का, भोजन-पान का तथा अब्रह्मचर्य का परित्याग करना पौषधव्रत है। आत्मा के निजगुणों का शोषण करने वाली सावद्य प्रवृत्तियों का पोषण करने वाले गुणों के साथ रहना, समतापूर्वक ज्ञान, ध्यान और स्वाध्यायादि में रत रहना पौषधोपवास व्रत है। संसार के प्रपंचों से सर्वथा अलग रहकर, एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्मचिंतन आदि धार्मिक क्रियाएँ करते हुए जीवन को पवित्र बनाना इस व्रत का लक्ष्य है। जैसे भोजन से शरीर को तृप्त करते हैं वैसे ही इस व्रत से शरीर को भूखा रखकर आत्मा को तृप्त किया जाता है। इस तीसरे शिक्षा व्रत के पाँच अतिचार हैं जो श्रावक के लिए जानने योग्य हैं। वे इस प्रकार है -

१. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक** - जिस स्थान पर पौषध व्रत किया हो, उस स्थान को ओढने-बिछौने के वस्त्रों को तथा पाट-चौकी आदि को सूक्ष्म दृष्टि से पूरी तरह देखे बिना काम में लेवे तथा हलन-चलन करते, शयनासन करते, गमनागमन करते समय भूमि या बिछौने को न देखे या भली-भाँति न देखे तो अतिचार लगता है।

२. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक** - पौषधयोग्य शय्या आदि की सम्यक् रूप से प्रमार्जना न करना तथा बिना पूँजे हाथ-पैर पसारना, पार्श्व करवट बदलना, अन्य स्थान को प्रमार्जित करना अन्य स्थान में हाथ पैर रखना आदि।

३. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि** - शरीर धर्म से निवृत्त होने के लिए अर्थात् मल-मूत्र के लिए भूमि का प्रतिलेखन न करना अथवा विधिपूर्वक न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितउच्चारप्रस्रवणभूमि** - मलमूत्र विसर्जन के योग्य भूमि को रात में बिना प्रमार्जन किये मलमूत्र का विसर्जन करना तथा रात के समय खुली भूमि में शारीरिक शंका निवृत्ति के लिए जाना पड़े तब भी सिर को ढके बिना जाना।

५. **पौषधोपवास का सम्यक् पालन न करना** - पौषधोपवास व्रत का विधिपूर्वक स्थिरचित्त होकर पालन न करना। पौषधव्रत के उपर्युक्त पाँचों अतिचारों को टालना चाहिए। पौषधव्रत का आचरण करने वाले श्रावक को पौषध के अठारह दोषों से बचना चाहिए। तभी निर्दोष व्रत की आराधना होती है। शुद्ध पौषध के प्रभाव से आनन्द, कामदेव आदि श्रावक एक भवावतारी हुए हैं।

४. चौथा शिक्षाव्रत 'अतिथि संविभाग'

सर्वत्यागी पंचमहाव्रतधारी निर्ग्रन्थों को उनके कल्प के अनुसार-निर्दोष अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र,कम्बल, पादप्रोंछन (रजोहरण), पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध, भेषज, इन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से आवश्यकतानुसार भक्तिपूर्वक संयम में सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना-अतिथि संविभाग व्रत है।

अतिथि - जिनके आने का कोई नियत समय नहीं हो, जो पर्व उत्सव अथवा निर्धारित समय पर पहुँचने की वृत्ति को त्याग चुके हों (अर्थात् जो अचानक आते हों) वे अतिथि कहलाते हैं। यहाँ मुख्यतः साधु-साध्वी को ही अतिथि समझना चाहिए।

संविभाग- उपर्युक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाए हुए आहार में से निर्दोष विधि से देना।

इस व्रत में तीन वस्तुओं का योग होता है - १. सुपात्र, २. सुदाता और ३. सुद्रव्य।

सुपात्र - आगमों में इसे पडिगाह कहा जाता है-गाहकसुद्धेणं (विपाक २.१) अर्थात् शुद्ध पात्र। सुपात्र वह है, जो सभी प्रकार के आरम्भ, परिग्रह तथा सांसारिक सम्बन्धों का त्यागकर आत्मकल्याण के लिए अग्रसर हुआ है तथा जो अनगार है और केवल संयम-निर्वाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप आहार लेता है। जिसकी आहार लेने की विधि भी निर्दोष है। जो बिना पूर्व सूचना अथवा निमंत्रण के अचानक आकर निर्दोष आहार लेता है, वह सुपात्र है।

सुदाता - शास्त्र में इसे दायगसुद्ध कहा जाता है। सुदाता वही है, जो सुपात्रदान का प्रेमी हो, सदैव सुपात्र दान की भावना रखने वाला हो। सुपात्र को देखकर जिसके हृदय में आनन्द की सीमा नहीं रहे। सुपात्र को देखकर उसे इतना हर्ष हो जाये कि जिससे आँखों से अश्रु निकल पड़ें। वह ऐसा समझे कि जैसे बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ आत्मीय मिला हो, अत्यन्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो गई हो। इस प्रकार अत्यन्त उच्च भावों से युक्त दाता सुपात्र को दान देकर उन्हें आदरपूर्वक कुछ दूर तक पहुँचाने जाता हो और उसके बाद दूसरे दाताओं की अनुमोदना करता हो और पुनः ऐसा सुयोग प्राप्त होने की भावना रखता हो, ऐसा दाता सुदाता कहा जाता है।

सुद्रव्य - दान की सामग्री निर्दोष हो, सुपात्र के अनुकूल एवं हितकारी हो। ऐसी वस्तु नहीं देनी चाहिए जो दूषित हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार साधु-साध्वी को प्रसन्न मन से निर्दोष आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

इस व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं -

१. **सचित्त निक्षेप** - साधु को नहीं देने की बुद्धि से निर्दोष और अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रख देना, जिससे वे ले नहीं सकें।

२. **सचित्तपिधान** - कुबुद्धि पूर्वक अचित वस्तु को सचित्त से ढक देना।

३. **कालातिक्रम** - गोचरी के समय को चुका देना और बाद में शिष्टाचार साधने के लिए तैयार होना।

४. **परव्यपदेश** - नहीं देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे का बतलाना।

५. **मत्सरिता** - दूसरे दाताओं से ईर्ष्या करना।

इन पाँचों अतिचारों को टालकर शुद्ध भावना और बहुमान पूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फल वाला होता है। जहाँ द्रव्य शुद्ध और पात्र शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आ जाये तो तीर्थंकर गोत्र का बंध हो जाता है। (ज्ञाताधर्मकथांग ८) भगवती सूत्र में दान का फल बतलाते हुए व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है-

प्रश्न - भगवन्! तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम बहराते हुए श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है?

उत्तर - गौतम! उस श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा होती है अर्थात् वह एकान्त रूप से संचित कर्मों की निर्जरा करता है। वह पाप कर्म बिल्कुल नहीं बाँधता।

दाता जब निर्दोष आहार-पानी परम श्रद्धा से बहराता है, उस समय उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं। भावों की विशुद्धि जब तक चालू रहती है, तब तक कर्मों की सतत निर्जरा होती ही रहती है। जब समयान्तर में विशुद्धता नहीं होती, कुछ कम हो जाती है, तब पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्ध चालू होता है। निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुण्यानुबंधी पुण्य से वह भौतिक सुख मिलता है, जो धर्म आराधना में बाधक न हो। परन्तु पाप कर्म तो बिल्कुल नहीं बँधता।

इस प्रकार चौथे शिक्षा व्रत (बारहवें व्रत) के अतिचारों से सदैव बचना चाहिए।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अद्भुत कला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके, अतः दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए उन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है।

-हेम-मजुंल, ३ रामसिंह रोड
होटल मेरू पैलेस के पास, जयपुर-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org